

## उपसंहार

भाषा की मानव अस्तित्व में सबसे पहली भूमिका अवचेतन और चेतना के निर्माण की है। पर अपने प्रकट रूप में मनुष्य के समक्ष भाषा का सबसे बुनियादी काम बातों को एक-दूसरे तक पहुँचाने का, यानी संवाद और सम्प्रेषण का है। बोलने की जहमत व्यक्ति उठाता ही इसलिए है कि उसे कुछ कहने की आवश्यकता या इच्छा है। कहने से काम हो जाते हैं, विचारों के आदान-प्रदान से मनुष्य निर्मित यह जटिल विश्व-व्यवस्था संचालित होती है। अतः भाषा समाज और संसार को चलाने का एक साधन है। भर्तृहरि के अनुसार शब्दों का स्वतंत्र संसार है और भाषा द्वारा निर्मित संसार बाह्य जगत से संबद्ध होता हुआ भी संचालित भाषा के अपने तंत्र से ही होता है। इस तरह समाज और संसार को साधने के लिए भाषा को साधना या अर्जित करना अनिवार्य है अतः भाषा को साध्य भी माना गया है। हर भाषा अपनेआप में एक विशिष्ट विश्व-दृष्टि होती है, जो अपने बोलनेवालों के मानस में विश्व और जीवन के बोध को खास ढंग से परिभाषित करती है। इसके समानांतर सार्वभौमिक व्याकरण की अवधारणा है जो समस्त मानव-भाषा को एक सार्वभौमिक व्याकरण, वाक्य गठन के एक नियम से परिचालित सिद्ध करती है। अलग-अलग भाषाओं में अभिव्यक्त भावों-विचारों-संवेदनाओं के बीच साम्य और वैषम्य का एक आधार भाषा के ये पक्ष भी हैं।

चेतना के, सभ्यता के और ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ मनुष्य जिस अनुपात में अपने अस्तित्व के विषय में जागरूक हुआ, उसी अनुपात में भाषा-संबंधी उसकी धारणा और उसके ज्ञान में भी विस्तार हुआ है। भाषा को ईश्वरप्रदत्त सबसे पवित्र व शक्तिशाली वस्तु मानने से लेकर आज भाषा के माध्यम से 'आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस' के निर्माण तक यह ज्ञान पहुँचा है। भारतीय चिंतन परम्परा आरम्भ से ही भाषा (वाक्) केंद्रित रही है। व्याकरण और दर्शन में भाषा में शब्द और अर्थ के संबंध, अर्थ-ग्रहण की क्रमशः जटिल होती प्रक्रिया पर गम्भीर वैज्ञानिक चिंतन हुआ है जिससे काव्यशास्त्रीय भाषा-चिंतन ने साहित्य में भाषा के सर्जनात्मक-सौंदर्यात्मक प्रयोग से जुड़े सूत्र ग्रहण किए हैं। चिंतन की यह पूरी परम्परा न एकांगी रही है और न ही जड़। भाषा को नित्य या प्रदत्त व्यवस्था मानने वाले मीमांसक हों या अनित्य और परम्परा द्वारा विकसित मानने वाले नैयायिक-वैशेषिक हों, सबने भाषा की प्रकृति से जुड़े महत्वपूर्ण निष्कर्ष दिए हैं। इस क्षेत्र में पाणिनी, भर्तृहरि और आनन्दवर्द्धन के चिंतन का अवदान सर्वाधिक है।

मनुष्य की रचनाशीलता का इतिहास पुराना है तो आलोचना की परम्परा भी नयी नहीं है। रचनाशीलता में अनिवार्यतः अलोचना-दृष्टि सक्रिय रहती है यानी रचना के साथ ही आलोचना का भी जन्म होता है। लेकिन विधा के रूप में इसका अस्तित्व रचना के विश्लेषण-मूल्यांकन के संदर्भ में उसके बाद उभरता है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही की परम्परा में आधुनिक काल से पहले तक की आलोचना ने साहित्य और इसके घटकों को परिभाषित करने का काम मुख्य रूप से किया। आलोचना को परिभाषित करने का प्रयास अपेक्षाकृत आधुनिक है। खासकर पिछली शताब्दी, यानी बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य साहित्य वाङ्मय में और भारतीय साहित्य वाङ्मय में आलोचना की अवधारणा पर बहुत विचार किया गया है। जैसे हर युग 'कविता क्या है' सवाल करता है, वैसे ही बीसवीं सदी

के अलग-अलग दशकों में 'आलोचना क्या है' का जवाब भी युगानुसार खोजने के प्रयास हुए हैं। आलोचना की अवधारणा में सवाल केवल आलोचना क्या है का नहीं है, बल्कि आलोचना का दायित्व, उसके तरीके, उसकी कसौटियों, रचना से आलोचना के संबंध आदि सवाल भी निहित होते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय की आलोचना को काव्य के गुण-दोष विवेचन की शास्त्रीय परम्परा से अलगाते हुए नये ढंग की समालोचना का अर्थ रचनाकार की अंतःवृत्तियों की गहन छानबीन का मार्मिक उद्घाटन माना। रामविलास शर्मा ने आलोचना को जनपक्षधर सांस्कृतिक आंदोलन का अंग मानते हुए इसका उद्देश्य जनता में बेहतर समाज व्यवस्था के लिए संघर्ष में प्रेरित करने वाली चेतना जगाने की दिशा में माना है। नामवर सिंह ने आलोचना को पाठक के समक्ष रचना का भाष्य करने वाला अतिरिक्त कर्म मानने के बदले प्रत्येक कृति को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हुए कृतिकार, पाठक और आलोचक की अपनी-अपनी प्रतिक्रिया को इसकी अनिवार्य कड़ी मानने पर बल दिया है। 'बाकायदा आलोचकों' से इतर कवि आलोचकों और अन्य लेखकों ने भी आलोचना क्या है या आलोचना क्या हो पर विचार किया है, पर वे रचना को प्राथमिक और आलोचना को उसका उपजीवी कर्म ही मानते हैं। निर्मल वर्मा आलोचना को साहित्य का आलोक-स्तम्भ मानते हैं, इसका मुख्य कार्य कृति की सच्ची मूल्यवत्ता की पहचान मानते हैं और 'अच्छी आलोचना' की भूमिका यह मानते हैं कि उससे जीवन्त साहित्य का माहौल बनता है, पढ़ने की संस्कृति का वातावरण तैयार होता है। इसी तरह अज्ञेय, मुक्तिबोध, अशोक वाजपेयी आदि ने आलोचना को आपद्धर्म की तरह निभाते हुए आलोचना के स्वरूप पर भी विचार किया है। इन सबके मतों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि हिन्दी में आलोचना की अवधारणा और आलोचना का रूप जड़ नहीं है बल्कि युगीन

सांस्कृतिक-राजनीतिक स्थितियों और आवश्यकताओं से हिन्दी आलोचना परिभाषित-परिवर्तित होती रही है।

हिन्दी आलोचना में आधुनिक ढंग से भाषा के सवाल पर विचार करने की परम्परा का सूत्रपात आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचना-कर्म से मिलता है। उन्होंने कविता की आलोचना के संदर्भ में आलोचना की अपनी दृष्टि और कसौटियाँ विकसित कीं। काव्यभाषा की सैद्धांतिकी गढ़ते हुए तथा कवियों की व्यावहारिक आलोचना करते हुए उन्होंने भाषा की प्रकृति, शब्द के प्रकारों व प्रकार्यों पर मौलिक चिंतन किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने भारतीय दर्शन-व्याकरण-काव्यशास्त्र की प्रमुख अवधारणाओं से पारिभाषिक शब्द लेते हुए भी उन्हें युगानुरूप नवीनता प्रदान की है, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हुई तत्कालीन खोजों के साथ तारतम्यता बिठाते हुए उन अवधारणाओं को प्रासंगिक बनाया है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य को भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग कहा है; वाग्विभूति का संचित भंडार कहा है; किसी जाति की रक्षित वाणी की ऐसी अखंड परम्परा कहा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र रूप की रक्षा करती हुई जगत की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका विकास करती चलती है। साहित्य को जब आचार्य शुक्ल जाति के विकास के लिए इतना महत्वपूर्ण मानते हैं तब स्पष्ट है कि उसके प्रसार और संचय को भी बहुत आवश्यक मानते हैं, उसकी प्रभविष्णुता, सम्प्रेषणीयता तथा जनमानस में लंबे समय तक उसके टिके रहने की क्षमता को आवश्यक मानते हैं। यह सब तभी संभव है जब साहित्य यानी जाति विशेष की विचार-परम्परा को उचित भाषा में व्यक्त किया जाए। आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक आलोचना का भाषिक पक्ष इसी उद्देश्य से प्रेरित है। कौन-सी रचना साहित्य की कोटि में आनी चाहिए और कौन-सी नहीं, इसके निर्धारण का प्रमुख आधार भी आचार्य शुक्ल रचना की भाषा को मानते हैं।

काव्य का प्रकृत लक्ष्य 'पदार्थों के साथ भावों के प्रकृत संबंध के प्रत्यक्षीकरण' को मानते हुए आचार्य शुक्ल ने काव्यभाषा में मूर्तिमत्ता, नाद-सौंदर्य, कथन की मार्मिकता, 'जाति-संकेत-सूचक' शब्दों के स्थान पर 'विशेष-रूप-व्यापार-सूचक' शब्दों के प्रयोग, व्याकरण-व्यवस्थित चलती भाषा, भाषा-विशेष की अपनी प्रकृति के अनुरूप मुहावरेदानी को वांछित माना है। कवियों की समीक्षा करते हुए भी वे प्रायः इन्हीं बातों को कसौटी बनाते हैं।

कथा-साहित्य में लचीली, व्यावहारिक तथा पात्रों के देशकाल अनुरूप भाषा के प्रयोग पर इन्होंने बल दिया है। आचार्य शुक्ल स्वयं एक सफल निबंधकार तथा आलोचक हैं, अतः उन्होंने निबंध व आलोचना की भाषा पर गद्य की अन्य विधाओं की तुलना में अधिक विचार किया है। भाषा की पूर्ण शक्ति के विकास का अवकाश निबंध विधा में सर्वाधिक होता है यह मानते हुए भी उनका कहना है कि निबंध में व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता के प्रदर्शन के लिए 'भाषा से सरकसवालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन न कराए जाएँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा कुछ न हो।' इसी प्रकार विशुद्ध आलोचना में वे भाषा की क्रीड़ा को अनुचित मानते हैं क्योंकि 'किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचना की भाव-भंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।' साहित्य की किसी भी विधा में वे भाषा के ऐसे प्रयोग को उचित नहीं मानते जो विचार की सम्प्रेषणीयता में बाधक हो।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-चिंतन समग्र भारतीय चिंतन परम्परा के बीच हिन्दी साहित्य के विकास को उसके बीच और उसकी संगति में देखने की दृष्टि देता है। 'कालीदास की रचना-प्रक्रिया' पुस्तक में वे कालीदास के हवाले से स्वयं को

‘तत्त्वान्वेषी’ के बजाय ‘कृती’ कहते हैं जहाँ तत्त्वान्वेषी का अर्थ आधुनिक शब्दावली में आलोचक है और कृती का अर्थ है सहृदय पाठक। यही कारण है कि तत्त्वान्वेषी की तरह रचना में इतिहास, भूगोल, अलंकार, छंद और पद-लालित्य खोजने से अधिक कृती की तरह सीधे रस तक पहुँचने, उसमें डूब जाने और छककर सौंदर्य का पान करने में वे अधिक रमते हैं। रचना और रचनाकार की भाषा पर उनके विचार सुस्पष्ट मानदंडों के आधार पर वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से अधिक आस्वादपरक टिप्पणियाँ हैं। रचना की भाषा उसकी अंतर्वस्तु के प्रभाव को तय करती है, इस बात से वे सहमत नहीं दिखते और मानते हैं कि रचना के भाव अगर हृदय को स्पर्श कर पाने में सक्षम हैं तो उसकी भाषा कितनी पात्र-देश-काल उपयुक्त है या नहीं है, यह जाँचने की कोई आवश्यकता नहीं, इस मामले में वे ‘भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय’ के हामी हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भाषा-चिंतन की सूक्ष्मता का पता उनके ‘लालित्य-तत्त्व’ नामक ग्रंथ से लगता है जहाँ मनुष्य की चेतना और उसकी सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास से भाषा के द्वंद्वात्मक संबंध का विस्तृत विवेचन हुआ है। मनुष्य की प्रथम रूप-सृष्टि को भयमूलक नहीं बल्कि आनन्दमूलक मानते हुए संगीतमयी काव्यभाषा को मानव-चेतना की आदिम उल्लास-भावना का प्रतिफलन मानते हैं। गद्य को वे ‘प्रयोजन की भाषा’ कहते हैं और विकसित मनुष्य की तर्क-चेतना की स्वाभाविक परिणति मानते हैं। यहीं से प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर द्विवेदी जी आधुनिक काव्यभाषा के विषय में कहते हैं कि एक विषय को जब अनासक्त और तद्गत भाव से देखा जाता है तब स्वभावतः ही भावुकता का स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक की भाँति गद्यमय भाषा लिखने लगता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भाषा मात्र और हिन्दी भाषा के सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक पक्षों पर बहुत विचार किया है। तुलनात्मक रूप से देखा जाए

तो हिन्दी आलोचकों में भाषा के सभी पक्षों के प्रति सर्वाधिक रुचि और विचार-विमर्श रामविलास शर्मा के यहाँ है। वे मानते हैं कि भाषा-संबंधी किसी भी समस्या का विवेचन मानव-समाज के उद्भव और विकास के प्रसंग में ही संभव है। अतः भाषा संबंधी उनके चिंतन के आयाम भाषा वैज्ञानिक पहलुओं से लेकर विश्वस्तर की राजनीति से जुड़ते हैं। आधुनिक साहित्यिक आलोचना में रचना की भाषा पर या शिल्प पर केंद्रित समीक्षा मुख्यतः उन समीक्षकों द्वारा हुई जो कुछ हद तक या पूर्णतः रूपवादी थे। दूसरी तरफ एक ऐसी समाजशास्त्रीय समीक्षा भी हिन्दी में पनप रही थी जो साहित्य को कलापक्ष और समाज पक्ष के दो विपरीत ध्रुवों के रूप में देखता और दिखाता था। इन दोनों ही आलोचना-पद्धतियों के विरोध में डॉ. रामविलास शर्मा की साहित्यिक आलोचना विकसित होती है। रचना के भाषिक पक्ष को कला पक्ष के अंतर्गत और विषय-वस्तु को सामाजिक पक्ष के अंतर्गत बाँट कर विचार करने की पद्धति को वे उचित नहीं मानते और न ही दोनों पक्षों को पूर्णतः एक ही चीज मानते हैं। साथ ही साहित्य में कला के प्रति असावधानी के निदर्शन को रामविलास शर्मा उचित नहीं मानते, इसके प्रमाण उनकी व्यावहारिक आलोचना में सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी आलोचना में एक दूसरे के समकालीन हैं। जिस आधुनिक कविता की भाषा में 'स्वाभाविक या वास्तव' के दबाव को द्विवेदी जी ने लक्षित किया और उसे काव्यभाषा के लिए स्वास्थ्यप्रद प्रवृत्ति नहीं माना, उसी प्रवृत्ति के विषय में डॉ. शर्मा मानते हैं कि आधुनिक हिन्दी कविता में एक यथार्थवादी रुझान बहुत महत्वपूर्ण है। कविता की पुरानी शब्दावली, पुराने छंद, पुरानी प्रतीक-योजना नये कवियों को इसलिए पसंद नहीं आती कि वह यथार्थ जीवन के बोलचाल से, यथार्थ जीवन के चित्रों से मेल नहीं खाती। नये हिन्दी कवि भाषा और छंद से लेकर

प्रतीक योजना तक यथार्थ की भूमि पर बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं, यह उनके आधुनिक बोध का सकारात्मक पक्ष है। कविता की विषयवस्तु के जीवन से जुड़ाव से काव्यभाषा में बदलाव को वे सकारात्मक मानते हैं, अनावश्यक नहीं।

काव्यालोचना में भाषा तथा कला-पक्ष की रामविलास शर्मा की समीक्षा की उत्कृष्टता का प्रमाण जैसे 'निराला की साहित्य-साधना' में मिलता है उसी प्रकार शमशेरबहादुर सिंह के गद्य पर उनके लेखन से गद्य की भाषा की समीक्षा की उनकी सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाण मिलता है। गद्य की लय, उसके सुथरेपन, वाक्य-रचना का आधुनिकता बोध से संबंध आदि बिंदुओं पर वे शमशेर के गद्य की कलात्मकता को परखते हैं, परखने के ये मानदंड भी वे शमशेर के गद्य के आस्वाद से ही प्राप्त करते हैं।

डॉ. नामवर सिंह का आलोचनात्मक लेखन जिस दौर में शुरू होता है वह हिन्दी में प्रयोगवाद और नयी कविता का दौर है। अपने लेखन के आरम्भ से ही नामवर सिंह को ऐसा साहित्यिक वातावरण मिला जिसमें भाषा और शिल्प की बारीकियों का सवाल प्रमुख था। अतः आलोचक नामवर सिंह के चिंतन व लेखन में प्रारम्भ से ही भाषा का मुद्दा महत्वपूर्ण रहा है। भाषा और अनुभव, भाषा और चिंतन, भाषा और ज्ञान की संरचना के बीच के संबंध को परिभाषित करने वाले नये अध्ययनों को वे ध्यान में रखते हैं। वे इस मत के समर्थन में हैं कि भाषा की समृद्धि अनुभव की शक्ति से जुड़ी है और अनुभव तभी पुष्ट हो सकते हैं जब व्यक्ति की भाषा समृद्ध हो। पर भाषा और अनुभव के इस संबंध को केवल सतही स्तर पर या यांत्रिक तरीके से समझा जाए तो विश्लेषण-मूल्यांकन की प्रक्रिया गलत दिशा में भी जा सकती है। हवाई बातों को, केवल शब्दों के खेल को अनुभव की गहराई समझने का भ्रम भी हो सकता है। इसलिए नामवर जी आलोचक से बहुत अधिक सावधानी और सृजनशीलता की माँग करते हैं।



नामवर सिंह पर कविता के प्रतिमानों से कहानी की आलोचना के 'आरोप' लगते रहे हैं, पर कथा की भाषा में काव्यात्मकता की प्रवृत्ति को नामवर सिंह ने उचित नहीं माना। साफ शब्दों में उन्होंने लिखा है, सार्त्र के हवाले से वे कहते हैं कि गद्य एक प्रकार का निरंतर नामकरण है और नाम की सार्थकता इस बात में है कि बोध्य वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अपने अस्तित्व का लोप कर दे। इस तरह अंतर्वस्तु के अधिकतम सम्प्रेषण की क्षमता को, 'साफगोई' को वे गद्य की भाषा का सबसे आवश्यक गुण मानते हैं। नामवर सिंह उन चंद आलोचकों में हैं जिन्होंने आलोचना विधा पर भी बहुत गहन विचार किया है। आलोचना की अपनी भाषा का अकादमिक जड़ता और पत्रकारिता की चटपटी भाषा से मुक्त, यथातथ्य एवं संवेदनशील होना वे आवश्यक मानते हैं।

चयनित आलोचकों के भाषा-संबंधी विचारों के अवलोकन से यह प्रमाणित होता है हिंदी आलोचना में आधुनिक भाषा चिंतन जिस गम्भीरता के साथ हुआ है। साथ ही हम पाते हैं कि उतनी ही गम्भीरता और सृजनात्मकता के साथ हिंदी के इन आलोचकों ने हिंदी आलोचना-भाषा को निर्मित किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की गम्भीर, प्रौढ़ और विचारक्षम आलोचना भाषा को परवर्ती श्रेष्ठ आलोचकों ने हिन्दी में आलोचना के उपयुक्त पहला उत्तम ढाँचा माना है। आलोचक शुक्ल जी की भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता है, इसे कई आलोचकों ने रेखांकित किया है लेकिन यह बात शुक्ल जी की भाषा को जटिल, अटपटी या बोझिल नहीं बनाती है। इसका कारण यह है कि वे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भरसक नहीं करते, उनकी आलोचना का उद्देश्य पांडित्य-प्रदर्शन नहीं होने से वाक्य-प्रयोग में स्पष्टता दिखती है और पाठक से संवाद की प्रवृत्ति के उद्देश्य से चालित उनके लहजे में रोचकता है। वे यथास्थान व्यंग्य करने, प्रसंगवश अपने व्यक्तिगत अनुभवों को आलोचना में शामिल करने से हिचकते नहीं हैं, इस कारण उनकी भाषा में उनके अपने

विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप भी है। नामवर सिंह की शब्दावली में कहें तो शुक्लजी की भाषा 'यथातथ्यता में क्लासिकी और बोधगम्यता में लोकसामान्य' है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी चूँकि स्वयं को तत्त्वान्वेषी के बजाय कृती मानते हैं, यह मान्यता उनकी आलोचना-भाषा में प्रतिबिम्बित होती है। उनकी आलोचना-भाषा में या तो शोधपरक तटस्थता मिलती है या फिर आस्वादपरक उच्छलता। रचना में डूबकर रचनाकार की खूबियों के बखान में इनकी शब्दावली प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा की भाषा की सीमा छूने लगती है। इनकी शैली खंडन-मंडन की न होने से दो-टूक निर्णय देने वाली वाक्य-रचना का प्रायः नहीं मिलती।

रामविलास शर्मा की आलोचना भाषा को सामान्य भाषा में आलोचना का सफल प्रयास कहा गया है। आलोचना में यथासम्भव वे भाषा की अभिधा-शक्ति से काम लेते हैं अर्थात् उनकी भाषा कहीं भी अपारदर्शी या गड़िन नहीं होती। रचना के कलापक्ष की समीक्षा में आलोचना की भाषा सबसे अधिक जटिल होती है पर रामविलास शर्मा की भाषा भी वहाँ ही जटिल नहीं होती। निराला की कविताओं के कलापक्ष पर लिखते हुए जैसी सीधी-साफ भाषा का प्रयोग वे करते हैं, उससे यह बात और अधिक प्रमाणित होती है। रामविलास शर्मा स्वयं मानते हैं कि सरल भाषा सदा सरलतापूर्वक नहीं लिखी जाती। बहुधा बड़ी-बड़ी बातें ऐसे सरल शब्दों में लिखी जाती हैं कि लोग भाषा से धोखा खाकर उस सरलता के भीतर पैठने की चेष्टा नहीं करते। भावों की गहनता, सूक्ष्मता या उच्चता के साथ भाषा सरल रहे, साथ ही शिथिल भी न हो, अत्यंत दुष्कर है। रामविलास शर्मा ने यह बात कही कविता के संदर्भ में है पर यह उनकी आलोचना-भाषा पर भी लागू होती है। विचारों की गहनता को, बिना शैथिल्य के सरल वाक्य रचना में साध लेने का दुष्कर कार्य उन्होंने सफलतापूर्वक किया है। डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना भाषा की प्रांजलता

नामवर सिंह की इस उक्ति प्रमाणित करती है कि भाषा में पारदर्शिता जीवन के प्रति एक साफ समझ और सुनिश्चित दृष्टिकोण से आती है।

आलोचना-भाषा की सर्जनात्मकता का उत्कृष्ट नमूना डॉ. नामवर सिंह की भाषा है। उसमें काव्यात्मकता का रस है। उसकी विशेषता यह है कि वह जिस रचना या रचना-प्रवृत्ति की समीक्षा करती है, उसकी आत्मा में प्रवेश करती है। इस प्रक्रिया में नामवर सिंह की आलोचना-भाषा रचना से प्राणवत्ता (मुहावरे, बीज-शब्द, तेवर) ग्रहण कर उसकी आलोचना को भी अधिक जीवंत बनाती है। छायावाद की समीक्षा करते हुए नामवर सिंह छायावादी कविता से शब्दावली ग्रहण करते हैं। शमशेर की शमशेरियत पर लिखते हुए शमशेर की ही तरह दो-दो, तीन-तीन शब्दों के वाक्य बनाते हैं और शब्दों से वाक्यों का काम लेते हैं। परंतु इस प्रक्रिया में उनकी भाषा प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा की भाषा की तरह 'बेठीक ठिकाने' की नहीं होती क्योंकि उनके दृष्टिकोण की दृढ़ता बरकरार रहती है।

आलोचकों की आलोचना-भाषा के अध्ययन-विश्लेषण के क्रम में यह दिखाई पड़ता है कि भाषा का वैचारिकी और चिंतन-प्रक्रिया से गहरा संबंध है। आलोचना विचारप्रधान साहित्यिक कर्म है और भाषा विचार को अभिव्यक्त करने से पहले विचार को आकार देने का काम करती है, अतः भाषा से आलोचना का संबंध केवल माध्यम या मूल्यांकन की कसौटी का इकहरा संबंध नहीं है। आलोचक की अपनी भाषा रचना और रचना को संभव करने वाली स्थितियों को परखने की उसकी दृष्टि को नियंत्रित करती है। जिस तरह रचना की भाषा के विषय में साहित्य-चिंतकों में अपनी-अपनी विचारधारा के अनुरूप सहमति-असहमति है, उसी तरह आलोचना की भाषा के सवाल पर भी आलोचकों में किन्हीं बिंदुओं पर मतैक्य है तो कुछ पर मतभिन्नता भी दिखती है। आलोचना की भाषा को सजीव और पारदर्शी और सम्प्रेषणीय होना चाहिए, इस मत पर सभी विचारक सहमत

हैं। असहमति उसके ढाँचे को परिभाषित करने पर है। हिन्दी के आरम्भिक आलोचक आलोचना को रचना की व्याख्या मानते थे, अतः आलोचना की भाषा के विषय में उनकी राय यह है कि आलोचना की भाषा और शैली की गहनता एक दोष है और आलोचना के लिए घातक है। समास शैली और क्लिष्ट भाषा से आलोचक का भाव स्पष्ट नहीं होता और उसे अपनी बात की भी व्याख्या करनी पड़ती है। अतः उनका मानना है कि व्यास शैली और सरल भाषा का व्यवहार ही आलोचना के लिए ग्राह्य है। पर बाद के आलोचकों ने माना है कि आलोचना की क्लिष्टता का कारण सामासिक भाषा या शैली की गहनता नहीं बल्कि आलोचक के दृष्टिकोण की अस्पष्टता होती है। आलोचक अगर अपनी आलोचना-प्रक्रिया में अपने समकालीन दबावों और तनावों के प्रति पूरी संवेदनशीलता से जूझते हुए रचना के लिए सार्थक प्रतिमान की तलाश करता है तो उसकी भाषा सामासिक या कष्टसाध्य होते हुए भी सार्थक और प्रसंगानुकूल होगी। रचना के विश्लेषण में किसी भी तरह के तनाव से मुक्त, निष्कर्ष पर पहुँची हुई भाषा में सूक्ष्मताहीन ठंडापन होता है, व्यास शैली होने भर से ऐसी आलोचना-भाषा प्रभावी नहीं हो जाती।

आलोचना की भाषा के किसी विशिष्ट तेवर का चुनाव, अवधारणात्मक पारिभाषिक शब्दावलियों के किसी खास सेट का चुनाव आलोचक की निजी पसंद का मामला नहीं है बल्कि इसका उसके आलोचनात्मक रवैये और अपने युगविशेष के कुल बौद्धिक परिवेश से सीधा संबंध है। आलोचना-भाषा का कोई एक बना-बनाया खाका नहीं हो सकता जिससे हर दौर की आलोचना का काम निकल जाए। जीवन की स्थितियाँ लगातार परिवर्तनशील हैं, उन परिस्थियों से प्राप्त अनुभव जटिल से जटिलतर होते जाते हैं और रचना में उनकी अभिव्यक्ति की भाषा भी सूक्ष्म और बहुस्तरीय होती जाती है। इस अभिव्यक्ति की समझ और इसका विश्लेषण किसी पूर्वनिर्दिष्ट भाषायी ढाँचे के माध्यम से

नहीं हो सकता। यही कारण है कि हिन्दी के प्रत्येक समर्थ आलोचक ने अपनी शब्दावली या तो स्वयं गढ़ी है या फिर पुरानी शब्दावली का प्रयोग नये अर्थ में किया है। दोनों ही सूरतों में आलोचना की भाषा लगातार अपडेट होती है। अतः आलोचना की भाषा के आदर्श पर विचार करते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि किसी एक या अन्य तरह की भाषा-शैली आलोचना की भाषा का आदर्श ढाँचा है। एक आदर्श आलोचना-भाषा के निर्माण के लिए मोटे तौर पर किन बातों से बचना चाहिए, इसकी एक सूची अवश्य बनाई जा सकती है।

हिन्दी आलोचना में भाषा-चिंतन की स्थिति क्या है और हिन्दी आलोचना की भाषा चिंतन-मूल्यांकन की भाषा के क्या आदर्श लेकर चली है, इन सवालों को केंद्र में रखकर यह शोध-कार्य हुआ है और निष्कर्ष के रूप में प्रमाण सहित हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी आलोचना में भाषा के महत्वपूर्ण सवाल को उतना महत्व देने की परम्परा है जितने से रचना की सामाजिकता और कलात्मकता का विश्लेषण बाधित नहीं होता बल्कि सही दिशा में प्रशस्त होता है। ऐसा नहीं है कि हिन्दी में भाषा-दृष्टि से हीन और ठस भाषा में आलोचना करने वाले आलोचकों का अभाव है; परंतु हिन्दी आलोचना ने विवेक से उन आलोचकों को अपनी आलोचना-परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान दिया है जिनकी भाषा और भाषा-दृष्टि ठोस और सूक्ष्म है। वर्तमान आलोचना-परिदृश्य अपनी परम्परा से यह संतुलन सीख सकता है, साहित्य की साहित्यिकता से समझौता न करते हुए रचना और जीवन के बीच के बहुस्तरीय संबंध की परख और व्याख्या करना सीख सकता है। आलोचना की भाषा को निंदा और प्रशंसा के दो ध्रुवीय ढाँचों में ही बाँट देने की जगह एक वस्तुनिष्ठ, संवेदनशील और स्पष्ट आलोचना-भाषा को विकसित करने के सूत्र भी यहाँ से प्राप्त किए जा सकते हैं।